''मनमोहन सहगल के उपन्यासों में आर्थिक पहलू''

'डॉ॰ ज्योत्सना

सहायक प्रोफेसर, हिन्दी विभाग,

किशन लाल पब्लिक कॉलेज,

रेवाड़ी (हरियाणा)।

समाज व राष्ट्र का सम्पूर्ण कार्य–व्यापार अर्थाजित होता है। आर्थिक प्रगति से ही लोगों का जीवन स्तर उन्नत होता है और राष्ट्र–सुदृढ़। समाज के क्रमिक विकास एवं उन्नति के लिए अर्थव्यवस्था ही आधार मानी जाती है। यदि योजनाबद्ध आर्थिक विकास हो तो सामाजिक स्थिति में सुधार आता है; देश के सर्वपक्षीय विकास के साथ–साथ अन्तरराष्ट्रीय स्तर पर भी ख्याति प्राप्त होती है। भारतीय दर्शन में भी 'अर्थ' की उपयोगिता को स्वीकार किया गया है। इसे हमारे चार पुरुषार्थों (धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष) में स्थान देकर इसके महत्त्व को मान्यता दी गई है। इसी के द्वारा गृहस्थ जीवन का भरण–पोषण होता है; इसी से सामाजिक–धार्मिक कृत्य सम्पन्न होते हैं और सात्विक कार्यों को करते हुए मनुष्य मोक्ष की ओर अग्रसर होता है तभी तो इसे मानव–जीवन की मूलभूत आवश्यकता कहा गया है। 'अर्थ' वास्तव में सामाजिक प्रगति का मेरुदण्ड है।

भौतिक प्रगति के लिए आर्थिक सम्पन्नता परमावश्यक है। व्यक्ति की रोटी, कपड़ा और मकान जैसी मूलभूत आवश्यकताएँ धन से पूरी की जा सकती हैं। प्रत्येक व्यक्ति आर्थिक तौर पर मजबूत होना चाहता है और सारे सांसारिक कार्य–व्यापार, वाणिज्य, व्यवसाय, उद्यम एवं कल–कारखानों का आधार व्यक्ति की यही इच्छा ही तो है। भौतिक उन्नति के लिए कर्त्तव्यों का सफलतापूर्वक निर्वाह करने हेतु पारिवारिक, सामाजिक, राष्ट्रीय एवं अन्तरराष्ट्रीय प्रगति के लिए धन की जरूरत होती है। इस बात को झुठलाया नहीं जा सकता।

'अर्थ' आज एक ऐसी धुरी बन गया है जिसके इर्द–गिर्द सामाजिक, दार्शनिक व धार्मिक व्यवस्थाएँ चक्कर काटती नज़र आती हैं। सारे रीति–रिवाज़, रिश्ते–नाते, कार्य–व्यापार इसी द्वारा परिचारिलत हो रहे हैं। भारत जिसे कभी 'धर्म–प्रधान' देश की संज्ञा से जाना जाता था, औद्योगिक उन्नति, शहरीकरण, आधुनिक शिक्षा, व्यापार–नीति, उन्नत संचार–साधनों से पुरानी–नई पीढ़ी की सोच में जमीं–आसमां का अंतर देखने को मिलता है। आधुनिक मानव भोगवादी संस्कृति के सम्मुख घुटने टेक रहा है। हमारे पारिवारिक रिश्ते, सामाजिक–बंधन, नैतिक–मूल्य, सब पर अर्थ–तन्त्र हावी हो रहा है। चूँकि साहित्य समाज का ही प्रतिबिम्ब होता है इसलिए आर्थिक स्थिति, अर्थ–व्यवस्था, वाणिज्य–व्यापार में जो परिवर्तन आए उनके फलस्वरूप लोगों के जीवन में जो उतार–चढ़ाव आए उनका चित्रांकन साहित्यकार की कलम करती है। अर्थ के कारण सामाजिक–सम्बन्धों में जो खिंचतान होती है, साहित्यकार उसका आकलन अपनी कृतियों में करता है। पिछले दो–तीन दशकों से निरन्तर बढ़ती महंगाई, महानगरीय जीवन, स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् भी देश की ढुल–मुल व्यवस्था, श्रमिकों की असन्तुष्टि, बेकारी और नवयुवाओं में बढ़ता आक्रोश, आर्थिक संकट से झूजने हेतु महिलाओं की कटिबद्धता इत्यादि का वर्णन साहित्य में मिलता है।

भारतीय संस्कृति की सर्वश्रेष्ठ उपलब्धियाँ, मान्यताएँ, आदर्श व मूल्य धरे के धरे रह गये और बाजारवादी मानसिकता ने आर्थिक उन्नति को ही जीवन का चरम लक्ष्य बना दिया। इसके प्रभाववश भारतीय जीवन–शैली पूर्णतया परिवर्तित हो गयी है। उत्पादन व उपभोग ही जीवन का ध्येय बन गया है

और आर्थिक उन्नति में ही लोग जीवन का परमसुख तलाशने लगे हैं। इसी उपभोक्तावादी संस्कृति ने मानव की नैसर्गिक एवं सूक्ष्म संवेदनाओं को मानो सोख लिया है।

डॉ॰ मनमोहन सहगल के उपन्यास साहित्य में अर्थ व अर्थतंत्र से जुड़े अनेक मुद्दों पर सविस्तार चर्चा की गई है। अर्थाभाव, बेकारी, महँगाई, रिश्वतखोरी, अर्थाश्रित सम्बन्ध चारित्रिक पतन, अर्थ संकट व मानवीय गरिमा का प्रश्न इत्यादि विभिन्न विषयों पर लिखते हुए लेखक ने जीवन में अर्थ के महत्व को प्रतिपादित किया है तथा साथ ही धन के अतिरिक्त मोह से उपजने वाली विसंगतियों और विकृतियों की ओर भी ध्यान दिलाया है। इस उद्देश्य से 'जिन्दगी और आदमी', 'नरमेध', 'एक और रक्तबीज', 'अर्थ कॉलेज कथा' एवं 'समझौते से पहले', आदि उपन्यासों में अनेकानेक उदाहरण उपलब्ध हैं। राष्ट्र का समग्र विकास आर्थिक विकास पर आधृत स्वीकारा जाता है। देश की संतुलत एवं समुचित प्रगति आर्थिक व्यवस्था पर निर्भर होती है। वस्तुतः संतुलित अर्थव्यवस्था ही राष्ट्र की उन्नति का मेरुदण्ड होती है।

ज्हाँ अर्थव्यवस्था आज तक असंतुलित हो, वहाँ जनता विकास के रास्ते पर कैसे अग्रसर होगी? भारतीय समाज में गरीबी ज्यों की त्यों कायम है। लोग आज भी रोजगार की तलाश में सड़कों की खाक छानते फिरते हैं। राजनयिकों की नपुंसकता, स्वार्थ प्रियता, गुटबंदियाँ, भ्रष्टाचार, चोर–बाजारी, अंध नितियाँ जनता की परेशानियों को शतगुणित करती हैं। आम आदमी को दो जून की रोटी के लाले पड़े हैं दूसरी ओर उद्योगपतियों, उच्चाधिकारियों, नेताओं, अमीरों–वजीरों के घरों में विलासिता का नग्न–नृत्य हो रहा है। योजनाएँ फाइलों में बनती–ढहती रहती हैं। भाषण और नारे लगते हैं पर आम आदमी का जीवन जैसा था, वैसा ही है। उसी सर्वहारा, उपेक्षित वर्ग की दयनीयता को लेखक ने अपने उपन्यासों द्वारा व्यक्त करने का प्रयास किया है।

जब तक देश का बहुसंख्यक आम आदमी अपनी अभिशप्त स्थितियों से नहीं उबरता तब तक प्रगति की कल्पना व्यर्थ होगी। डॉ0 सहगल के उपन्यासों में आम आदमी की इसी पीड़ा को अभिव्यंजित किया गया है। उनके प्रथम उपन्यास 'जिन्दगी और जिन्दगी' का नायक 'दीपक' अर्थाभाव के कारण कोल्हू के बैल की तरह सुबह से श्याम तक परिश्रम करता है। भारत में ऐसे हजारों दीपक रोज़ मारे–मारे फिरते हैं जिन्हें पाई–पाई जुटाने के लिए पसीना बहाना पड़ता है। लेखक दीपक के माध्यम से उन्हीं निर्धनों की शाब्दिक तस्वीर खींचता है जैसे– प्रातः सात बजे घर से निकलता, एकेडमी में पढ़ता। दिल्ली के लंबे फासले तय करता हुआ एक–दो स्थानों पर ट्यूशन करने जाता और फिर संध्या को कॉलेज पहुँचकर अपने थके बदन और सुस्त मगज़ में दर्शन की समस्याओं को बिठाने का प्रयत्न करता।[1]

गरीब जीवन में सदा अभावों का सामना करता है तभी उसका जीवन नीरस और बोझल हो जाता है। 'दीपक' विवाह के पश्चात् अपनी पत्नी ज्योति से प्रेमालाप करना चाहता है पर घर में एक ही कमरा और बड़ों के लिहाज़ से वह अपनी इच्छा की आपूर्ति में असफल रहता है। दीपक अपने बिखरे सपनों के विषय में कहता है– ''निश्चय ही सिनेमा–स्क्रीन पर देखा सुहाग–कक्ष मुझे नहीं मिल पाया था। एक ही तो कमरा था रहने के लिए हमारे पास। अतः बीच में कपड़े का 'पार्टीशन' किए एक ओर माँ और भाभी आदि पड़े थे और दूसरी ओर ह्रदय की धड़कनों को स्वयं सुनता मैं अपनी 'नवेली' पत्नी के साथ जमीन पर ही लेटा था।''[2]

निर्धन की इज्जत का सौदा भी धन का लालच दिखा कर किया जाता रहा है। 'काला–सच' में भील कन्या 'रत्ना' जब राजा रायकरणदेव की कामुकता का शिकार बनने से इनकार करती है तो उसका अर्थ लिप्सु बाप उसे डाँटते हुए कहता है – ''चुप, चुप, क्या बकती हो। वे प्रदेश के स्वामी हैं। तुम उन्हें भी भा गई हो, हीरे – जवाहरात से तोल देंगे तुम्हें। हमारे क़बीले में कोई तुम पर अंगुली उठाने का साहस नहीं करेगा....। बेटी, यह तो सामाजिक चलन है। इन बड़े लोगों की सेवा में हमारी बहू–बेटियाँ आती ही हैं;

तुम बेकार बिदक रही हो।.....तुम अपने भाग्य को सराहो, बेटी। राजा की सेवा में आने वाली युवती रानी ही होती है। आयु भर के लिए सुख–सुविधा पा जाती है; और क्या चाहिए तुम्हें।''[3] महँगाई की समस्या निरन्तर जटिल से जटिलतर होती चली जा रही है जिसके कारण सरकार को भी देश की अर्थव्यवस्था को सम्भालना कठिन लगता है। लोग शासन तंत्र के खिलाफ़ बगावत पर उतारू हो जाते हैं।

समाज में अराजकता फैलाती है; भ्रष्टाचार, रिश्वतखोरी, बेईमानी, चोरी आदि दुर्नीतियों को प्रश्रय मिलता है। दुकानदार जमाखोरी करते हैं और ब्लैकमेलिंग का एक ऐसा चक्रव्यूह बनता है जिसका भेदन करना नामुमकिन लगने लगता है। महँगाई से होने वाले मूल्य संक्रमण व अध्यापकों की परिवर्तित मनःस्थिति की ओर इशारा करते हुए लेखक ने 'अर्थ कॉलेज कथा' में लिखा है – महंगाई के बढ़ने के साथ–साथ अध्यापकों में भी वेतन से इतर अर्जन की आवश्यकता महसूस होने लगी। पैसा कमाने का सर्वाधिक सुगम मार्ग 'बेईमानी' कॉलेज के अध्यापकों में भी कुलबुलाने लगी।.....इंटर्नल एसेसमेंट के बीस प्रतिशत अंक तथा विज्ञान के तीनों–कैमिस्ट्री, फिजिक्स, बॉयोलॉजी विषयों की प्रायोगिक परीक्षाओं के 50–50 अंक बिकाऊ होने लगे।''[4]

आजकल युवतियाँ धनिक–पुत्रों को फाँस कर उनसे सम्बन्ध बनाना पसन्द करती हैं और लड़के भी सुंदर युवतियों को बगल में लेकर घूमना अपना स्टेटस सिंबल स्वीकारते हैं। दोनों का संबंध अर्थाधारित ही तो है। 'अथ कॉलेज कथा' की 'आशा' और 'रणधीर' की जोड़ी का आधार भी यही है जिसके बारे में लेखक ने लिखा है – ''वह धन–कुबेरों के बेटों से दोस्ती लगाती थी।.....उसके साथ होटल जाना और घूमने के बहाने शॉपिंग–प्लाज़ा में जा घुसना, आशा के शौक थे। रणधीर की पॉकेट में प्रायः दो–चार हज़ार की राशि होती ही है।....आशा सुन्दर और स्मार्ट है, इसलिए उसको बगल में लेकर चलने में रणधीर को सुखद झुरझुरी होती है। आशा की फुजूलखर्ची का बोझ रणधीर के कन्धों पर था, बदले में उसकी हवस रस–सिद्ध होती थी। दोनों अपनी अपनी जगह संतुष्ट थे।''[5]

अर्थ लिप्सा : अनादिकाल से अर्थ संग्रह में मानव की मुख्य रुचि रही है। सुख–सुविधाओं की प्राप्ति की होड़, प्रदर्शन–प्रवृत्ति, भौतिकतावादी मानसिकता, व्यक्तिवादी अहमन्यता आदि के कारण मानव स्वार्थी एवं अर्थ लोलुप बन गया है। दिनोंदिन बढ़ती महंगाई, उच्च स्तरीय जीवन की ललक, प्रदर्शन प्रियता इत्यादि अन्यन्य कारणों से मानव में अधिकाधिक अर्थ लिप्सा पनपने लगी है। डॉ0 सहगल जैसे सजग साहित्यकार जो समाज की नस–नस पहचानते हैं इस ओर अनभिज्ञ कैसे हो सकते हैं। 'अन्ना पासवान' में 'नायक' इसी धन के लालच के कारण फन्ने खाँ की बातों में आ जाता है। अनारन के पिता नायक को अपनी बेटी के साथ नागौर आने का आमंत्रण देते फन्ने खां ने पांसा फेंकते हुए कहा – ''नायक भाई.....उसे तो नाच के लिए राजी कर लो, बड़ी हवेली से इनाम तो बहुत मिलेगा। कहीं नाच पर हवेली के मालिक रीझ गए तो वह बड़े–बड़े मोतियों का उनका हार अनारन के गले में होगा। लाखों का है, मालिक तो यों भी इनाम देने में बेजोड़ है।''[6]

चारित्रिक उच्चता की प्रतिमूर्ति मानी जाने वाली भारतीय नारी भी इस अर्थ–लिप्सा की मैराथन में शामिल हो गई है। भौतिक सुखों के लिए उसने अपने चरित्र तथा मूल्यों को भी ताक पर रख दिया है। नवयौवनाएँ ऐश–परस्ती की खातिर न केवल सहपाठियों अपितु अध्यापकों को भी चूना लगाने लगी हैं। 'अर्थ कॉलेज कथा' की नीलम कामुक प्रिंसिपल सिंगला को अपने लटके–झटके दिखाकर स्कॉलरशिप का प्रबंध कर लेती है''[7] और 'रानी' जायसवाल की बांह थामकर कामुकता का प्रदर्शन करती हुई उधार का नाटक करके रुपये ऐंठ लेती है।''[8] ''.....और कॉलेज में ऐसी अनेक लड़कियाँ थीं, जो ऐश करने के लिए धन हासिल करना चाहती थीं, भले ही उसके लिए उन्हें छोटी–मोटी आंगिक कीमत चुकानी पड़े।''[9]

पाश्चात्य सभ्यता के अन्धानुकरण से 'भौतिकतावाद' हमारे यहाँ भी पनपने लगा है। लोग धर्माधारित कार्यों में संलिप्त होने की अपेक्षा स्वार्थ साधन व इहलौकिक कार्यों को प्रमुखता देने लगे हैं। भौतिक प्रगति की अंधी दौड़ हमें विनाश की ओर ले जा रही है। हमारा प्रत्येक कार्य उपयोगिता व उपादेयता के इर्द–गिर्द चक्कर लगाते हुए सम्पन्न होता है जिसकी झलक उपन्यासकार मनमोहन सहगल के उपन्यासों में विद्यमान है। 'बदलती करवटें' का पात्र 'ब्रह्मस्वरूप' नितान्त भौतिकवादी है। वह केवल लाभदायक व स्वार्थपूर्ति के कार्य करने का इच्छुक है। उसके विचारानुसार – ''संसार में सत्यता केवल पेट भरने, तन ढाँपने, सिर छिपाने तथा यौन–तुष्टि में ही है। हिंसापूर्ण क्रान्ति ही लक्ष्य–प्राप्ति का एकमात्र साधन है और नीति–अनीति, सदाचार–अनाचार, पाप–पुण्य सबका निर्णय लक्ष्य–सिद्धि से ही होता है। साधनों की अच्छाई–बुराई का लक्ष्य के साथ कोई संबंध नहीं। ईश्वर की सत्ता तथा नैतिक–आचरण सरमायेदारी द्वारा रचे भय दिखाने के हौए मात्र हैं अन्यथा जीवन में इनका कोई स्थान नहीं।''[10]

भारत जैसे गरीब देश में जहाँ लोगों को भर पेट भोजन न मिलता हो, वहाँ अपव्यय तो भीषण अपराध ही है। अपव्ययी सदैव अन्य लोगों की ईर्ष्या व द्वेष का ही पात्र बनता है इसीलिए तो 'सादा जीवन उच्च विचार' का नारा भारत में प्राचीन काल से गूंजता रहा है। देश के धन को यदि सार्थक कार्यों में लगाया जाये तो कल्याणकारी होगा इसी बात की पुष्टि करते हुए डॉ0 सहगल इस प्रवृत्ति को नकारते हैं। हमारे यहां राजा–महाराजा, सुलतान–नवाब अपनी दौलत को किस प्रकार नष्ट करते रहे है, इसका एक उदाहरण डॉ0 सहगल के उपन्यास 'जिन्दगी और आदमी' में जूनागढ़ के नवाब द्वारा अपनी कुतिया की शादी रचाने के संदर्भ में दिया गया है यथा –

''नवाब साहिब की कुतिया थी। नवाब ने उसका ब्याह मंगलौर के नवाब के किसी कुत्ते से रचाया था। कई लाख रुपये उस शादी पर खर्चे गये। कुतिया की शादी नवाब की बेटी से भी अधिक शान–शौकत से हुई।''[11] महायुद्धों, पूंजीवाद एवं औद्योगीकरण के फलस्वरूप समाज दो वर्गों में बंट गया, शोषक वर्ग और शोषित वर्ग। शोषित वर्ग की निर्धनता का लाभ उठाकर शोक वर्ग निरन्तर उसका शोषण करता रहा है। यह शोषण शारीरिक, मानसिक, भावात्मक व आर्थिक कई प्रकार का है। धर्म, व्यापार, शिक्षा, समाज तथा संस्कृति के उद्धारक–प्रचारक–सुधारक तथाकथित समाज के ये ठेकेदार अवसर का लाभ उठाकर अपना उल्लू सिधा करने में संलग्न हैं। गरीब व लाचार व्यक्ति इन जालिम प्रवंचकों के हत्थे चढ़ जाते हैं और तमाम उम्र इनकी गुलामी करके नकर–तुल्य जीवन जीने को विवश होते हैं।

लेखक को युग–द्रष्टा कहा जाता है क्योंकि उसकी पैनी दृष्टि समाज की प्रत्येक हरकत पर गड़ी होती है। डॉ0 सहगल भी ऐसी सूक्ष्म दृष्टि रखते हैं जो प्रत्येक स्तर पर हो रहे शोषण तथा शोषित–शोषक संघर्ष देख सकने में समर्थ है। 'नरमेध' में 'असगर' और 'सईद' भेड़ की खाल में छिपे भेड़िए 'रहमत' को खुदा का फरिश्ता सझकर उसकी बातों पर यकीन कर लेते हैं और रहमत उन्हें नौकरी व धन का लालच देकर पाकिस्तानी सरहद पार करवाकर आतंकवादी ट्रेनिंग कैम्प में पहुँचा देता है।''[12]

'अथ कॉलेज कथा' शिक्षित वर्ग के आर्थिक शोषण की मुँह बोलती तस्वीर है। पूँजीवादी अर्थव्यवस्था में अध्यापकों की मजबूरियों से लाभ उठाकर उन्हें प्रत्येक प्रकार की बेगार के लिए बाधित करते हैं और कर्मचारी को बंधक की भांति सिर झुकाना ही पड़ता है। अवैतनिक स्पेशल कोचिंग व रविवारीय सोशल–सर्विस कैम्प तथा साप्ताहिक मीटिंग के नोटिस पर क्षुब्ध हुआ प्राध्यापक 'जायसवाल' अपने सहकर्मी 'शर्मा' को कहता है – यह तो सरासर शोषण है.....हमने इनके पास नौकरी की है, अपने को गिरवी तो नहीं रख दिया। हमारी प्राइवेट जिन्दगी तो जैसे कुछ है ही नहीं। हमारा खाना–पीना, औढ़ना–बिछौना , सोना–जागना, सब कॉलेज ही है क्यों.....प्रातः कॉलेज में पढ़ाओ, सायं कॉलेज में पढ़ाओ, कॉलेज

अधिकारियों की नाक ऊँची करने को और रविवार सारा दिन झख मारो प्रिंसिपल की सेवा में। प्राइवेट कॉलेजों में तो सुना है आधा वेतन थमाकर पूरी रकम की रसीद ले लेते हैं, कोई चूँ भी नहीं कर पाता।''[13]

जब सभी रिश्ते अर्थाधारित हो गये हैं तो विवाह इससे अछूता कैसे रह सकता है। समाज के परम्परागत नियम भी अर्थ के सामने घुटने टेक रहा है। अमीर लड़की के लिए कोई शर्त नहीं, लड़कों की बोली लगती है, लड़के घर जँवाई बनने को भी अपना सौभाग्य स्वीकारते हैं परन्तु गरीब की सुन्दर–सुशील, सच्चरित्र कन्या की कोई कीमत नहीं। एक की कमाई से घर नहीं चलता इसलिए सर्वगुण सम्पन्न, सुशिक्षित कन्या नौकरी भी करती हो और सामाजिक प्रतिष्ठा के लिए ढेर सारा देहज भी लाए तब जाकर बात बनती है। आर्थिक तंगी ही बाल विवाह, अनमेल विवाह आदि का मुख्य कारण है।

पौराणिक उपन्यास 'मानव छला गया' का पात्र 'शीलकर्म' नवयौवना 'सुनयना' के प्रति आकृष्ट हुआ विवाह प्रस्ताव करता है तो शीलकर्म के परिवार की आर्थिक अव्यवस्था से परिचित सुनयना उसे स्पष्ट इंकार कर देती है।''[14] 'अथ कॉलेज कथा' के युवा पात्र सुधीर और डाली परस्पर प्रेम तो करते हैं लेकिन....सुधीर को मालूम था कि पारिवारिक स्टेटस का अंतर डॉली को उसकी नहीं बनने देगा। डॉली भी जानती थी कि वह सुधीर की विवाहिता कभी नहीं हो सकती है।''[15] 'समझौते से पहले' के अरुणा–प्रमोद बराबर की शिक्षा प्राप्त कर चुके थे और परस्पर प्रेम भी करते थे। धनाधिप पुत्र प्रमोद अरुणा के साथ विश्वासघात करके अमेरिका चला जाना चाहता है और उधर अरुणा के पिता द्वारा किए गए विवाह प्रस्ताव को अस्वीकार करते हुए..... 'प्रमोद के पिता ने बड़े सुसभ्य ढ़ंग से उन्हें अपने और उनके वर्ग में अंतर समझाया और सधन्यवाद प्रस्ताव लौटा दिया।''[16]

जो रिश्ता या सम्बन्ध अर्थ पर टिका हो उसका भविष्य उज्ज्वल नहीं होता, इसका प्रमाण मिलता है 'दहेज' आधारित विवाह सम्बन्धों में स्वच्छ और निर्मल सम्बन्ध में अर्थ आने से परिणाम एक कुप्रथा कलंक बनकर सामने आया है। इस परम्परा ने समाज में अनेक समस्याओं को जन्म दिया तथा औरत के पतन का प्रमुख कारण बनी। आये दिन वधुओं के उत्पीड़न , दाहन, विवाह–विच्छेद, आत्महत्या इत्यादि की खबरें छपती हैं। कन्याओं के माता–पिता को दहेज का प्रबंध करने की चिंता तिल–तिल जलाती है। पुत्री के अभिभावक होना शाप बन जाता है। इस घृणित रोग से समाज का रोम–रोम पीड़ित है। समाज के माथे का यह कलंक जन–जागृति, ह्रदय–परिवर्तन, शिक्षा के प्रचार–प्रसार द्वारा ही धोया जा सकता है।

'कश्मीर की कसक' में लेखक ने 'परमेश्वरी' की व्यथा कथा द्वारा दहेज की समस्या को उद्घाटित किया है। 'परमेश्वरी' की शादी किसी कुलीन हिन्दू घराने में इसलिए नहीं हो पाती क्योंकि उसकी विधवा मां दहेज देने में असमर्थ है। हिन्दुओं की संकीर्ण मानसिकता एवं लोभी प्रवृति पर क्षुब्ध हुई परमेश्वरी कहती है – ''यदि एक घेरे के नियमों की संकीर्णता के कारण मेरी माँ के निरन्तर बहते आँसू सूखने ही नहीं पाते, मेरे विवाह में दिये जाने वाले दहेज का प्रश्न उसकी जीवन–वेदना बन गया है। रात–रात भर वह रोती, मेरी जवानी तथा अपनी गरीबी को कोसती है, चिन्ता में निरन्तर घुलती जा रही है, भला उस घेरे के नियमों को क्यों न बदल दिया जाये? यदि उनके बदलने में कोई कठिनाई आये तो उन्हें तोड़ दिया जाये, यदि फिर भी बात बनती न दिखे तो अपना अस्तित्व बनाए रखने, जीने की साध और सुख की खोज में पड़कर क्यों न उस घेरे को छोड़कर किसी दूसरे घेरे में प्रवेश कर लिया जाए।''[17]

जहाँ 'चतुर्भुज' जैसा सुसभ्य ब्राह्मण पुत्र अपनी शादी में कानी कौड़ी तक लेना पाप समझता है''[18] और 'जिन्दगी और जिन्दगी का नायक' 'दीपक' युवा पीढ़ी का प्रतिनिधित्व करते हुए कहता है – जिन्होंने लड़की दे दी उनसे और क्या मिलना बाकी रहा?''[19] सदियों से चली आ रही वेश्यावृत्ति की कुप्रथा आज भी छद्म रूप में भारतीय समाज में परिव्याप्त है। कहीं–कहीं धनाभाव के कारण माता–पिता स्वयं अपनी बेटियों को इस ओर लगा देते हैं तो कहीं–कहीं महानगरीय भोगवादी नारियाँ अपनी भौतिक सुख–सुविधाओं की

आपूर्ति हेतु यह धन्धा अपना लेती हैं। जब तक नर–नारी संबंधों में पावनता नहीं आती, आर्थिक हालत नहीं सुधरती, चारित्रिक उच्चता प्राप्त नहीं होती, समाज में इस कुप्रथा का समूल नाश सम्भव नहीं हो पायेगा। डॉ0 सहगल के उपन्यासों में 'वेश्यावृत्ति' के मूल कारणों तथा परिणामों पर विस्तृत चर्चा उपलब्ध है। 'मानव छला गया' में प्राचीन भारतीय समाज में इस कुप्रथा के प्रचलन का संकेत देते हुए लेखक लिखता है – 'स्त्री जब धन से उपलब्ध हो, तो कौन धनवान भला स्त्री–भोग से पथ्य लेगा।... सभी कृषक नर्तकियों पर धन लुटाते हैं, नगर–वधुओं के चरणों में शीश झुकाते एवं प्रेम के मिस वासना का व्यापार करते हैं।''[20]

आधुनिक युग में भी यह प्रथा ज्यों की त्यों प्रचलित है। 'अथ–कॉलेज कथा' में इसका संकेत देते हुए लेखक ने लिखा है –''गोवा–बिच पर झुटपुटा होते ही अनेक वेश्याएँ सुसभ्य पहरावे में नौजवानों को फंसाने का कांआ किए घूमती हैं। शिकार अच्छा हाथ लगा तो बढ़िया, उसकी पॉकेट तो वे खाली करवा ही लेती है। न–नुकर की तो छेड़खानी का इल्जाम लगाकर अपने गुर्गों से पिटवाती या पुलिस से मिलकर धनवान की चंगी हजामत बना डाती हैं।''[21]

मुम्बई जैसे महानगरों में अंडर वर्ल्ड के गैंग औरतों पर अत्याचार तो करते ही हैं। सत्ते जैसे लोग तो अपनी पत्नी को भी गैंग की पत्नी बना डालते हैं। पति के संरक्षण में भी रानी को वेश्यावृत्ति करनी पड़ती है। अपनी दयनीयता का उद्घाटन वह अपनी सखी अरुणा के सम्मुख करती है – ''सत्ता के वर्तमान धन्धे में हम पत्नियाँ गैंग की सांझी सम्पत्ति हैं। हमें माँ बनने का अधिकार नहीं, नित्य नवीन सजधज से दूसरों को लुभाना और माल इधर से उधर करना ही हमारी सार्थकता है।... उनके धन्धे की सबसे बुरी बात तो मुझे वह लगती है, जब इनके किसी जोड़ीदार को न सिर्फ घर में छिपाकर रखना होता है, बल्कि अक्सर उसके साथ सोना भी पड़ता है।''[22]

प्रत्येक प्रकार के उचित–अनुचित कार्य के लिए दफ्तरों के चपड़ासी से लेकर अफसर तक रिश्वत लेते हैं। यदि 'रिश्वत' के पाँव न लगाये जाएं तो 'फाइल' अपनी जगह से नहीं हिलती। रिश्वतखोर सोचता है कि यदि रिश्वत लेते पकड़े जाओ तो रिश्वत देकर छूट जाओ। काम निकलवाना हो तो रिश्वत की चाबी के बगैर ताला नहीं खुलता। न्याय व्यवस्था और कानून भी मानो इसको रोकने में असमर्थ हैं या इसमें भागीदार हैं। 'नरमेध' में लेखक रिश्वतखोरी पर व्यंग्य करते हुए लिखता है – ''सरकारी कार्यालयों में अर्जी के साथ 'पेपरवेट' देना पड़ता है अन्यथा अर्जी का कागज ही उड़ जाता है।''[23]

'अथ कॉलेज कथा' में काठमांडू की यात्रा पर गये युवक–युवतियाँ वहाँ से कीमती सामान की खरीददारी कर लेते हैं। उनका सारा सामान चुंगी अधिकारी जब्त करने की धमकी देता है। प्रो0 तिवारी के विनती करने पर अधिकारी ने इशारे से कहा– ''हम यहाँ दिन–रात झख मारते हैं, अपने घरों और परिवारों से दूर धक्के खाते हैं। कभी खतरे भी झेलते हैं, सो किए लिए? आप सामान इकट्ठा करवाइए, फिर देखते हैं।''[24] और पन्द्रह हजार की रिश्वत लेकर उन्होंने सामान सहित छात्रों को सीमा पार जाने की आज्ञा दे दी।

समाज की अव्यवस्था का कारण आर्थिक असमानता होने के साथ–साथ आरक्षण भी होता है और जातिगत आरक्षण इस अव्यवस्था को ओर अधिक बढ़ाने वाला होता है। अमीरों को असमान व्यवस्था से यूँ ही कोई अन्तर नहीं पड़ता तो चक्की के दो पाटों में पिसता है सजातीय गरीब या मध्यवर्गीय मानव जिसकी कहीं कोई सुनवाई नहीं। एक और रक्तबीज में धन के असमान वितरण के फलस्वरूप ब्राह्मण पुत्र चतुर्भुज अपने पिता की परेशानियों पर क्षुब्ध हुआ सामाजिक अव्यवस्था को कोसते हुए कहता है –

''दिन–भर में आधा पेट भोजन न मिले, पूस की रातों में ठिठुर कर सूर्य की प्रतीक्षा में रात–बितावे व 'पण्डिज्जी, पाउँ लागौं' तक ही अपेक्षित हैं और वे जिनके घर में कल तक चूल्हा भले ही न जलता हो,

आज अजीर्ण के मरीज हो रहे हैं; जमीन, बीज, कृषि–साधन तथा नौकरियाँ उनके कदम चूमती हैं।''[25] शिक्षित युवा वर्ग सरकार की इस अन्यायपूर्ण नीति का कड़ा विरोध करता हुआ दीर्घ काल से संघर्षशील है। युवाओं की इसी आत्मपीड़न को व्याख्यायित करते हुए 'अथ कॉलेज कथा' का मध्यवर्गीय छात्र सुधीर डॉली से कहता है –

''कानून, सुरक्षा–व्यवस्था, मन–मर्जी की शिक्षा, ऊँची कारोबारी सुविधाएँ, जब चाहें जो चाहें उसकी उपलब्धि सब एक वर्ग के पक्ष में हैं। दूसरा वर्ग योग्यता, कौशल, कर्मण्यता, संघर्ष–सामर्थ्य, सब कुछ लेकर भी उपेक्षित है। यह अचेतन तुलना, यही अनपेक्षित द्वेष, सलीब ढोने का पर्याय है। मैं तो कई बार यह भी सोचता हूँ कि पढ़ाई में परिश्रम करने का भी क्या लाभ? नौकरी ढूँढ़ने के समय पदकधारी उपेक्षित होते हैं, साधारण चर्खे उन पर बकरे बुलाते हैं और धन की अंगुलि पकड़कर ईमान चलता है।''[26] पूँजीवाद अर्थव्यवस्था एक ऐसी अर्थव्यवस्था है जिसमें देश के समस्त उत्पादन के साधनों पर कुछेक पूंजीपतियों का आधिपत्य होता है। समाज दो वर्गों में विभक्त हो जाता है– एक पूँजीपति या शोषक वर्ग, दूसरा सर्वहारा श्रमिक या शोषित वर्ग। पूँजीपति उद्योग धन्धों एवं लाभ का अधिकारी होता है और श्रमिक वर्ग को मात्र उसकी मजदूरी से ही संतुष्ट होना पड़ता है।

इस अर्थव्यवस्था में सारी पूँजी कुछेक हाथों में सिमट कर रह जाती है। श्रमिक दाने–दाने को मोहताज शोषण का शिकार होता है। धीरे–धीरे अव्यवस्था के कारण समाज में विद्रोह के स्वर उठने लगते हैं और देश की सम्पूर्ण शासन–व्यवस्था डगमगाने लगती है। 'अथ कॉलेज कथा' में आर्थिक भेद के कारण जीवन में दरपेश समस्याओं के साथ आम आदमी की त्रासदायक स्थिति का बड़ा सटीक चित्रण पेश करते हुए लेखक ने लिखा है –

''एक निम्न मध्यवर्गीय या निम्न वर्गीय परिवार और दूसरा उच्च वर्गीय या सामंती परिवार, दोनों अपने–अपने ढंग से जीते हैं।.....जब एक व्यक्ति कार से उतर कर दुकानदार से सामान लेता है और बिना भाव जाने नोट फेंककर 'कीप दी चेंज' कहकर चला जाता है, वहाँ ग्राहक के तौर पर पैदल आने वाले और टके–टके के लिए भाव–तोल करने वाले का क्या सम्मान हो सकता है, दुकानदार की नज़रों में''[27]

निष्कर्षतः डॉ॰ सहगल का समाज में व्याप्त आर्थिक पहलुओं को देखने का नजरिया अत्यन्त स्पष्ट, गूढ़ एवं विचारशील है। उन्होंने न केवल आर्थिक मुद्दों को उठाया है, अपितु सामान्य जीवन और समाज को भी उसी दृष्टि से देखते हुए समस्याओं को बड़ी स्पष्टता एवं संजीदगी से चित्रित किया है। डॉ॰ सहगल को पढ़ते हुए कहीं भी ऐसा नहीं लगता कि हम अवास्तविक संदर्भ से आत्मसात हो रहे हैं।

संदर्भ :

1. ज़िन्दगी और ज़िन्दगी, पृ. 15
2. वही, पृ. 127
3. काला सच, पृ. 42,43
4. अथ कॉलेज कथा, पृ. 298
5. वही, पृ. 257, 258
6. अन्ना पासवान, पृ. 22
7. अथ कॉलेज कथा, पृ. 254
8. वही, पृ. 256
9. वही, पृ. 254
10. बदलती करवटें, पृ. 410
11. जिन्दगी और जिन्दगी, पृ. 288
12. नरमेध, पृ. 388 से 393 तक
13. अथ कॉलेज कथा, पृ. 143, 144
14. मानव छला गया, पृ. 284, 285
15. अथ कॉलेज कथा, पृ. 198
16. समझौते से पहले, पृ. 397
17. कश्मीर की कसक, पृ. 83
18. एक और रक्तबीज, पृ. पृ. 357
19. जिन्दगी और जिन्दगी, पृ. 140
20. मानव छला गया, पृ. 284, 250
21. अथ कॉलेज कथा, पृ. 203
22. समझौते से पहले, पृ. 408, 409
23. नरमेध, पृ. 372
24. अथ कॉलेज कथा, पृ. 209, 210
25. एक और रक्तबीज, पृ. 290
26. अथ कॉलेज कथा, पृ. 199
27. वही, पृ. 199